Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 17, Issue No. 1, April-2020, ISSN 2230-7540

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की हिन्दी आलोचना

Dr. Asha Tiwari Ojha*

Associate Professor, Department of Hindi, Sunderwati Mahila College, Tilka Manjhi Bhagalpur University, Bihar

सार – *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने आलोचनात्मक विवेक के माध्यम से आलोचना के जिस 'मान' और 'सिद्धांत' को निरूपित किया, उसने हिन्दी आलोचना को काफी समृद्ध किया। बाद में चलकर आलोचना के इस 'मान' और 'सिद्धांत' को लेकर काफी बहस हुई। हिन्दी की माक्र्सवादी आलोचना के भीतर यह बहस केन्द्र में रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', जायसी, सूर, तुलसी संबंधी व्यावहारिक आलोचना, लोकमंगल और 'रसदशा' संबंधी स्थापना उनकी आलोचना का केन्द्रीय हिस्सा रहा है। और इनसे संबंधित आलोचना ही बहस या विवाद के मुख्य हिस्से रहे हैं। आचार्य शुक्ल के ऊपर जो मुख्य आरोप लगे उसमें उन्हें वर्णाश्रम और ब्राह्मणवाद समर्थक आलोचक के रूप में प्रचारित किया गया। हिन्दी में आलोचना की शुरूआत गद्य साहित्य के आविर्भाव से ही शुरू हो जाता है। द्विवेदी युग तक आते-आते हिन्दी आलोचना ने एक व्यवस्थित रूप को ग्रहण करना शुरू किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस रूप को सामाजिक आधार प्रदान किया। ऐसा नहीं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पहले यहाँ आलोचना की विधा कमजोर थी। "साहित्यालोचन की एक समृद्ध भारतीय परम्परा है। भरतमुनि के समय से साहित्यशास्त्र का निर्माण होता आया है। अनेक आचार्यों के दीर्घकालीन प्रयत्नों से क्रमशः रस, अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति और ध्वनि के सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है। किन्तु जब हिन्दी आलोचना का विकास हुआ उस समय संस्कृत काव्यशास्त्र की यह महान् परम्परा विकृत हो चुकी थी। पंडितराज जगन्नाथ के पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी से ही यह विकृति शुरू हो गई थी और मध्ययुग के ह्रासकालीन दरबारों के वातावरण में पली आलोचना की रीति-परम्परा रस के उपकरणों को लेकर नायिका-भेद, नख-शिख वर्णन और ऋतु वर्णन में ही सीमित हो गई।"[1]*

----------X----------

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना के इस रीतिवाद को खत्म किया। और "हिन्दी आलोचना पहली बार उनके यहाँ अपने आलोचना नाम को चरितार्थ करती है, मात्र गुण-दोष-कथन अथवा रीतिवादी साहित्यशास्त्र की रूढ़ियों से छूटकर साहित्य तथा काव्य के एक उन्नत और ऊर्जस्वित विवेक के तहत तथा एक गहरी लोकोन्मुखी दृष्टि से संयुक्त होकर न केवल रचना की अन्तर्वस्तु और सामाजिक संदर्भो से साक्षात्कार करती है, रचना की साहित्यिक मूल्यवत्ता को उजागर करने के साथ-साथ उसके सामाजिक महत्व का भी आकलन करती है।"[2] साहित्यिक मूल्यवत्ता और सामाजिक महत्व के मूल्यांकन के कारण ही "हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द या कवि निराला का। उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती संस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचन्द और निराला ने।"[3] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की महत्ता के पीछे उनके आलोचना में आने से पूर्व ज्ञान की उस तैयारी से है, जो उन्होंने इतिहास, दर्शन, भाषा, विज्ञान, साहित्य एवं चिंतन की अन्य सरणियों से प्राप्त किया था। "आचार्य शुक्ल की आलोचना और इतिहासदृष्टि के निर्माण में भारतीय पुनर्जागरण की चेतना सक्रिय दिखाई देती है। इस चेतना के कारण ही वे भारतीय समाज, संस्कृति, भाषा और साहित्य की परम्पराओं के मूल्यांकन और नए विकास की संभावनाओं की तलाश का प्रयत्न करते हैं। उनकी इतिहासदृष्टि के निर्माण में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की चेतना भी मौजूद है। इस चेतना के कारण ही वे साहित्य और समाज के विकास के बीच संबंध की खोज करते हैं और समाज, भाषा और साहित्य के इतिहास में जनता की महत्वपूर्ण भूमिका की पहचान करते हैं।"[4]

शिवदान सिंह चौहान 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' में लिखते हैं कि "शुक्ल जी का दृष्टिकोण नीतिवादी था। वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था और अवतारवाद में उनकी पूरी आस्था थी। नीतिवादी दृष्टिकोण से ही कृष्ण के बजाय राम उनके आदर्श थे। इसका प्रभाव उनकी साहित्य समीक्षा पर भी पड़ा।"[5] शुक्ल जी के पुनर्मूल्यांकन के संदर्भ में शिवदान सिंह चौहान कहते हैं "शुक्ल जी की सबसे बड़ी देन है-साहित्य का सामाजिक दृष्टिकोण। लेकिन यह दृष्टिकोण समग्र न होकर, हिन्दू दृष्टि पर ही आधारित था। इसी कारण उसमें ऐतिहासिक असंतुलन आ गया है"[6] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के जिस ऐतिहासिक असंतुलन और सूर की जगह

www.ignited.in

तुलसी या फिर कृष्ण की जगह राम के आदर्श को रखने का प्रश्न है, उसमें उनकी 'लोकधर्म' संबंधी मान्यता काम कर रहा था। चिंतामणि में अपनी लोक संबंधी मान्यताओं को बतलाते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है- "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।" साथ ही, "सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।" शुक्ल जी 'लोक' को व्याख्यायित करते हुए, दरअसल मनुष्य का उस 'लोक' से संबद्ध और 'रचना' के माध्यम से आनंद की प्राप्ति का 'लोकहृदय' संबद्ध को बतलाते हैं। 'लोकमंगल' और 'रस' संबंधी शुक्ल जी की मान्यतायें भारतीय परम्परा के भीतर से ही आया है। अपनी परम्परा में गहरे धँसकर, नई वैज्ञानिक एवं वैश्विक दृष्टि के सहारे वे हिन्दी आलोचना को एक नया आयाम देते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की लोकबद्धता और रसात्मक अनुभूति के साहचर्य पक्ष पर शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि "रस उनके लिए उपभोग तथा आस्वाद से आगे मनुष्यत्व की उच्च श्रेणी तक ले जाने वाली प्रेरणा बनता है। उसे वे हृदय की मुक्तावस्था कहते हैं जिस अवस्था में मनुष्य स्वार्थ संबंधों से ऊपर उठकर शेष शृष्टि के साथ अपने को मिला देता है, व्यक्तिबद्ध न रहकर लोकबद्ध हो जाता है, अपना प्रसार करता है, अपनी आदमियत को चरितार्थ करता है। रस का संबंध लोकमंगल की अवधारणा से इसी बिन्दु पर जुड़ता है, दोनों का अन्तर्भाव यहीं होता है।"[7] शुक्ल जी ने 'लोक' के 'आनंद' पक्ष को कर्म से जोड़ते हुए, उसको जीवन की रचनात्मकता से जोड़ा। 'लोक' से प्राप्त रसास्वादन को रचना प्रक्रिया के भीतर लाकर शुक्ल जी ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने "सहजता के साथ 'रस' तथा 'लोकमंगल' का अन्तर्विरोध समाप्त कर दिया। 'आनंद' और 'रस' की भिन्नता को समझाते हुए शुक्ल जी कहते हैं "मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर', 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके वाचकत्व का परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित होता है। क्या क्रोध, शोक, जुगुत्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते है, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते!.....इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है- उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।"[8]

शुक्ल जी के यहाँ लोक थोड़ा शिष्ट है। जबकि द्विवेदी जी के लोक में सामान्य जन में प्रचलित, टोना, टोटका, तन्त्र-मन्त्र, मिथक आदि विश्वास थे। इसलिए द्विवेदी जी के लोक में पारम्परिक रूढ़ियाँ भी अन्तर्निहित हो जाती है। द्विवेदी जी के 'लोक' संबंधी मान्यताओं को व्याख्यायित करते हुए नामवर सिंह 'दूसरी परम्परा की खोज' में लिखते हैं "द्विवेदी जी ने भारतीय इतिहास की एक और विशेषता की ओर संकेत किया है, वह यह है कि लोक के दबाव में शास्त्र ने कभी-कभी अपने आपको लचीला बनाकर लोक की बहुत-सी विशेषताओं को अन्तर्मुक्त कर लिया। भारत में उच्चवर्ग के इस वैचारिक लचीलेपन और समझौतावादी रूख का ही यह परिणाम हुआ कि हिंसात्मक विद्रोह की स्थितियाँ बहुत कम उत्पन्न हुई। इस दृष्टि से भारत की प्राचीन मनीषा अन्य अनेक देशों के बुद्धिजीवियों से अधिक चतुर और व्यवहारकुशल प्रतीत होती है। किन्तु यदि एक ओर 'शास्त्र' ने झुककर लोक की विशेषताओं को अन्तर्मुक्त किया तो दूसरी ओर शास्त्र-वंचित लोक भी अपने अनुभव-संचित विचार खण्डों को सुसंगत और समृद्ध बनाने के लिए 'शास्त्र' का सहारा लेता रहा है। इस दुहरी प्रक्रिया में कभी-कभी एक ऐसे "लोकधर्म" का निर्माण हुआ है जो व्यापक जन-विद्रोह के लिए वैचारिक आधार का काम करता रहा है। भारतीय इतिहास के संदर्भ में द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत यह "लोकधर्म" की अवधारणा निश्चय ही महत्वपूर्ण है।"[9] नामवर जी की इस व्याख्या में लोक और शास्त्र के द्वन्द्व का आधार उच्चवर्ग के लचीलेपन और समझौतावादी दृष्टिकोण को बताया गया, साथ ही इनका संघर्ष 'हिंसात्मक विद्रोह' के रूप में 'लोकधर्म' का निर्माण करता है। किन्तु इस 'लोकधर्म' में सात्यतता नहीं बल्कि 'कभी-कभी का भाव रहा। जबकि शुक्ल जी "मनुष्य की सत्ता की व्याख्या उसकी लोकबद्धता से अलग करके नहीं करते। इस स्तर पर उनके चिन्तन का तात्पर्य यही निकलता है कि मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती, बल्कि उसका लोकबद्ध अस्तित्व ही उसकी चेतना का निर्धारण करता है। यही कारण है कि कविता का प्रयोजन, उनकी दृष्टि में, लोक के भीतर ही निर्धारित होता है, और लोक के भीतर उनकी दृष्टि केवल सामंजस्य पर नहीं जाती, बल्कि विरोधों के संघर्ष पर भी जाती है। सामान्य हृदय और अत्याचारी वर्गों के हृदय के भीतर को स्पष्ट ही नहीं करते, उनके विरोध की भी बात करते हैं।"[10]

शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि का एक पक्ष नैतिकतावाद से भी जाकर जुड़ता है। नैतिकतावाद का यह आग्रह एक आदर्श स्वरूप की बात करता है। इसलिए अशिष्टता और उच्छृंखलता का निषेध उनके यहाँ मौजूद है। नैतिकता के इस रूप की आलोचना करते हुए नामवर सिंह कहते हैं "यह

आकस्मिक नहीं है कि भारतीय संस्कृति के नाम पर नैतिकता की ध्वजा फहराने वाले प्रकृति के सौन्दर्य को तो किसी प्रकार सह लेते हैं, पर नारी-सौन्दर्य के सामने आँखें चुराने लगते हैं। उदाहरण के लिए शुक्ल जी के लोकमंगल में प्रकृति के सौन्दर्य के लिए तो पूरी जगह है, लेकिन छायावादियों की कौन कहे स्वयं विद्यापति और सूर जैसे भक्त कवियों का नारी-सौन्दर्य भी ग्राह्य नहीं है। आनन्द और माधुर्य को लोक-मंगल की सिद्धावस्था का गौरवपूर्ण पद देकर उन्होंने साधनावस्था का मार्ग अपनी ओर से सर्वथा निष्कण्टक कर लिया, क्योंकि साधना के मार्ग में माधुर्य से बाधा पहुँचने की आशंका है।''[11]

साधनावस्था के गौरवपूर्ण पद का प्रश्न हो या साधना के मार्ग में माधुर्य के आने का शुक्ल जी के यहाँ 'प्रेमालम्बन के सम्मुख खड़े मनुष्य से बेहतर स्थिति लोकसंग्रहकर्ता और लोक व्यवस्था के रक्षका है। इसलिए अपने इतिहास में सूरदास के ऊपर लिखते हुए कहते हैं ''कृष्ण भक्ति की परम्परा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्त्ति को ही लेकर प्रेमतत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है, उनके लोकपक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्ण भक्तों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बड़े-बड़े भूपालों के बीच लोक-व्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चल रहे हैं वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौन्दर्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालंबन के सम्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेमलोक में फूला फिरता है। अतः इन कृष्ण भक्त कवियों के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि वे अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे, तुलसीदास जी के समान लोकसंग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात का परवाह ये नहीं रखते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषय वासनापूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया।''[13] 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' वाले निबंध में शुक्ल जी प्रेम, साहचर्य, उद्दीपन, काम, आनंद की प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं ''प्राकृतिक वर्णन केवल अंगरूप से ही हमारे भावों के आलंबन नहीं हैं, स्वतंत्र रूप में भी हैं। जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे, आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जाति का अधिकांश अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेमभाव पूर्व साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अंतःकरण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है। जो प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामाग्री समझते हैं, उनकी रूचि भ्रष्ट हो गई है और संस्कार सापेक्ष है।''[14] इसी निबंध में वे आगे कहते हैं कि ''मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक संबंध का विच्छेद करने से अपने आनंद की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिये मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र मिला है उसी प्रकार भावों (मन के वेगों) की व्याप्ति के लिए भी, अब यदि आलस्य या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को संकुचित कर लेगा तो उसका आनंद पशुओं के आनंद से विशाल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता है।''[15] शुक्ल जी प्रकृति और मनुष्य दोनों के सौन्दर्य के प्रेमी हैं। इस प्रेम में आँख चुराने या मिलाने जैसी स्थिति नहीं है। बल्कि 'आलस्य' या 'प्रमाद' का निषेध कर आनंद की उच्चतर भावभूमि पर साहचर्य की स्थिति का है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के भक्तिकाल संबंधी मान्यताओं के ऊपर भी माक्र्सवादी आलोचना में काफी विवाद रहे हैं। खासकर उसके उदय और कबीर संबंधी उनकी मान्यताओं को लेकर। काल-विभाजन के क्रम में शुक्ल जी साहित्य और इतिहास के संबंध को बतलाते हुए कहते हैं कि ''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।''[16] साहित्य के इतिहास संबंधी इस परिभाषा से स्पष्ट है कि शुक्ल जी साहित्य और इतिहास को उसकी क्रियाशीलता में देखने के पक्षधर हैं। क्योंकि जनता की चित्तवृत्ति कोई स्थिर या रूढ़ मतवाद नहीं, बल्कि परिवर्तन की प्रक्रिया के बीच से होकर निर्मित होता है। ''जनता की चित्तवृत्ति व्यापक राजनीतिक, सामाजिक परिवेश से प्रभावित होती है और साहित्य के परिवर्तनों को प्रभावित करती है। इस प्रकार साहित्य के स्वरूप के परिवर्तन और विकास के मूल में सामाजिक विकास। समाज, जनता की चित्तवृत्ति और साहित्य में परिवर्तन के बावजूद एक निरंतरता होती है, जिसे परम्परा कहते हैं।''[17] इसलिए ''साहित्य के इतिहास में परम्पराओं के विकास पर विचार करते समय निरंतरता और अंतराल तथा सामंजस्य और संघर्ष के द्वंद्वात्मक संबंध की पहचान आवश्यक है। कई बार साहित्य की परम्पराओं में परिवर्तन बाहरी प्रभावों से भी प्रेरित होते हैं, इसलिए परम्परा के विकास के संदर्भ में

विभिन्न प्रकार के प्रभावों का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है।"[18]

परम्परा के विकास के संदर्भ में परिवर्तन और प्रभाव के विश्लेषण का संदर्भ शुक्ल जी के सर्वाधिक विवादास्पद मान्यता यानि भक्तिकाल के उदय संबंधी मत से जाकर जुड़ती है। जिसमें वो कहते हैं कि "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लल्लित हुए सुन ही सकते थे।..... अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त मार्ग ही क्या था?"[19] राजनीतिक परिस्थिति के विश्लेषण के बाद वे धार्मिक परिस्थिति की बात करते हुए कहते हैं "कर्म और भक्ति ही सारे जनसमुदाय की संपत्ति होती है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में कर्म तो अर्थशून्य विधि विधान, तीर्थाटन और पर्वस्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था। धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत काल में और विस्तृत प्रवर्तन पुराणकाल में हुआ था, कभी कहीं दबती, कभी कहीं उभरती किसी प्रकार चली भर आ रही थी।" परिस्थितियों के विश्लेषण के क्रम में ही वे भक्ति के उदय को रेखांकित करते हैं "कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को संभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विकसित और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गये। प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।"[20]

आचार्य शुक्ल की इस स्थापना पर सर्वाधिक विवाद हुए। शुक्ल जी पर साम्प्रदायिक इतिहास लेखन का आरोप लगाया जाने लगा और उन पर अंग्रेज इतिहास लेखकों की दृष्टि से संचालित होने का आरोप तक लगा? हजारी प्रसाद द्विवेदी अंग्रेज लेखक प्रोफेसर हेवेल की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ आर्यन रूल' में उल्लखित विचार जिसमें कहा गया कि "मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राजकाज से अलग कर दिए गए। इसलिए दुनिया की झंझटों से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर, जो उनके लिए एकमात्र आश्रय स्थल रह गया था, स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ।"[21] का खण्डन करते हुए कहते हैं कि "मैं प्रस्ताव करता हूँ कि हमारे पाठक आगे के सहस्त्राब्दक की साहित्यिक चेतना को जाति की स्वाभाविक चेतना के रूप में देखें अस्वाभाविक अधोगति के रूप में नहीं।"[22] द्विवेदी जी के इस खण्डन को आधार बनाकर नामवर जी 'दूसरी परम्परा की खोज' में लिखते हैं "यद्यपि द्विवेदी जी ने यहाँ हेवेल के मत की समीक्षा नहीं की है, किन्तु ऐसा संकेत प्रतीत होता है कि भक्ति आंदोलन को मुसलमानों के विरूद्ध हिन्दुओं की प्रतिक्रिया बताने की जिम्मेदारी मूलतः साम्राज्यवादी अंग्रेज इतिहासकारों पर है, इसलिए यदि कोई भारतीय इतिहासकार उसी बात को दुहराता है तो वह अनजाने ही अंग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा प्रचारित भ्रम का शिकार है और इस प्रकार वह अन्ततः उस साम्राज्यवादी हित का ही समर्थन करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह इतिहास की सम्प्रदायवादी दृष्टि है।"[23] नामवर जी, हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार को आधार बनाकर वस्तुतः शुक्ल जी की ही आलोचना कर रहे थे। नामवर जी जिस सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण की बात करते हैं शुक्ल जी का उससे कोई संबंध नहीं है। शुक्लजी अपने युगीन विकास और परिवर्तनों को समझ रहे थे, और इतिहास को उसी वैज्ञानिक दृष्टि से देख रहे थे। नहीं तो जिस 'धर्म को लेकर उनकी आलोचना होती है, उसके बारे में 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में लिखते हैं "हमारे यहाँ धर्म की रसात्मक अनुभूति या भक्ति में ज्ञान उक्त सामंजस्य के कारण कभी बाधक नहीं हुआ और न धर्म ने आग और कुल्हाड़े से ज्ञान का विरोध किया। हमारे यहाँ 'कर्म और उपासना' के समान 'ज्ञान' भी धर्म का एक अंग बहुत प्राचीन काल से माना गया था।"[24] शुक्ल जी अपने इस मत से पश्चिम और भारतीय धर्म के स्वरूप को अलग करके उसके विकसित रूप को दिखलाते हैं। शुक्ल जी के ऊपर भक्ति संबंधी मत को लेकर हिन्दू मुस्लिम प्रतिक्रिया वाले अंश का तो बहुत जोर-शोर से उठाया गया, पर उसी उदय संबंधी मत को देते हुए लिखा गया कि ".....मुसलमानों के बस जाने से देश में जो नयी परिस्थिति उत्पन्न हुई उसकी दृष्टि से हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए एक 'सामान्य भक्तिमार्ग' का भी विकास होने लगा।"[25] आचार्य शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के भक्ति के उदय संबंधी मान्यताओं पर 'लोकजागरण और भक्तिकाव्य' में रामविलास शर्मा लिखते हैं "मुसलमानों का राज्य कायम हुआ, इससे जनता निराश हुई, यह स्थापना शुक्ल जी और द्विवेदी जी दोनों की है। इसके बाद शुक्ल जी ने जहाँ भक्ति को हिन्दुओं और मुसलमानों का सामान्य मार्ग माना, वहाँ द्विवेदी जी ने उसे हिन्दू संस्कृति का सुरक्षात्मक प्रयत्न कहा अथवा उसे इस्लाम प्रभावित हिन्दू संस्कृति माना। हिन्दू-धर्म अर्थशून्य विधि-विधान में फँसा

हुआ था, यह स्थापना शुक्ल जी और द्विवेदी जी दोनों की है। भक्ति-काव्य मायावाद का विरोधी था शुक्ल जी की इस स्थापना को भी द्विवेदी जी ने दोहराया है''[26] इस तरह हम देखते हैं कि आलोचना का यह विवाद वैचारिक की जगह 'वैयक्तिक' के ज्यादा करीब है।

शुक्ल जी की आलोचना का एक महत्वपूर्ण पक्ष उनकी 'छायावाद' संबंधी मत भी हैं। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में शुक्ल जी 'छायावाद' के संबंध में लिखते हैं कि ''छायावाद के पहले नए मार्मिक विषयों की ओर हिन्दी कविता प्रवृत्त होती आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यंजक शैली की, कल्पना और संवेदना के अधिक योग की। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था, धीरे-धीरे अपने स्वतंत्र ढर्रे पर श्री मैथलीशरण गुप्त, श्री मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा हो रहा था।

गुप्त जी और मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा स्वच्छंद नूतन धारा चली ही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थी। परन्तु ईसाई संतों के छायाभास (फैंटसमाटा) तथा योरोपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (सिंबालिज्म) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगला में ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थी। यह 'वाद' क्या प्रकट हुआ, एक बने बनाए रास्ते का दरवाजा सा खुल पड़ा और हिन्दी के कुछ नए कवि उधर एकबारगी झुक पड़े। यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था।''[27] शुक्ल जी जब 'छायावाद' की आलोचना कर रहे थे तो उसके पीछे उनका छायावाद पर विदेशी प्रभाव और उसका अनुकरण तथा आध्यात्मिकता की भावना केंद्र में थी।

'छायावाद' के विश्लेषण के क्रम में वे आगे कहते हैं ''छायावाद' नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तुविन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभावपक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसारणोंन्मुख काव्यक्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यंत चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्गारों तक ही काव्य की गतिविधि प्रायः बँध गई।''[28] शुक्ल जी 'छायावाद' की आलोचना करते हैं तो उनका जोर अर्थभूमि के संकुचन और रहस्यात्मक अभिव्यंजना शैली पर है। उनका मानना था कि ''अगोचर और परोक्ष से प्रेम नहीं हो सकता, इसलिए वह काव्य का विषय नहीं है। दूसरी स्थापना यह थी कि केवल कला या शैली सँवारने के लिए लाक्षणिकता का बहुत ज्यादा प्रयोग काव्य के लिए हानिकर है और उसका प्रयोगमात्र किसी को रहस्यवादी बनाने के लिए काफी नहीं है।''[29]

अज्ञात और असीम के रूप की आराधना को वो भारतीय काव्य परम्परा के अनुकूल नहीं मानते। ''अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर कामवासना के शब्दों में प्रेम व्यंजना भारतीय काव्यधारा में कभी नहीं चली, यह स्पष्ट बात 'हमारे यहाँ यह भी था, वह भी था' की प्रवृत्ति वालों को अच्छी नहीं लगती। इससे खिन्न होकर वे उपनिषद् से लेकर तंत्र और योगमार्ग तक की दौड़ लगाते हैं। उपनिषद् में आए हुए आत्मा के पूर्ण आनंद स्वरूप के निर्देश, ब्रह्मानंद की अपरिमेयता को समझाने के लिये स्त्री-पुरूष संबंध वाले दृष्टांत या उपमाएँ, योग के सहसदल कमल आदि की भावना के बीच से बड़े संतोष के साथ उद्धृत करते हैं।.....पर ये सब साधनात्मक हैं, प्रकृत भावभूमि या काव्यभूमि के भीतर चले हुए मार्ग नहीं। भारतीय परम्परा का कोई कवि मणिपुर, अनाहत आदि के चचक्रों को लेकर तरह तरह के रंगमहल बनाने में प्रवृत्त नहीं हुआ।''[30] अज्ञेय और अव्यक्त की प्रेमव्यंजना छायावाद में रहस्यवाद से होते हुए प्रतीकवाद तक पहुँचता है और ''कवि कल्पना प्रत्यक्ष जगत् से अलग रमणीय स्वप्न घोषित किया जाने लगा और कवि सौंदर्य भावना में झूमने वाला जीव''[31] इससे ''काव्य में भावानभूति के स्थान पर कल्पना का विधान ही प्रधान समझा जाने लगा और कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतों की योजना करने लगा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और विचित्रता लाने में ही वृत्त हुई।''[32] दूसरा यह कि ''अभिव्यंजना प्रणाली या शैली का विचित्रता ही सब कुछ समझी गई।''[33]

रहस्यवाद को लेकर शुक्ल जी की तीव्र आलोचना हुई। रामविलास शर्मा 'रहस्यवाद' के संदर्भ में शुक्ल जी की आलोचना करते हैं और कहते हैं कि ''शुक्ल जी के सामने रहस्यवाद का वर्ग-आधार स्पष्ट न था, इसलिए उसका विरोध करने के लिए उन्हें अभारतीयता के कमजोर तर्क का सहारा लेना पड़ा। उनके सामने मध्यकालीन कवियों, आधुनिक पच्छिमी कवियों और भारत के रोमांटिक कवियों के रहस्यवाद का अन्तर भी स्पष्ट न था। इसलिए सब पर उन्होंने एक साथ ही हल्ला बोल दिया था।''[34] शुक्ल जी के रहस्यवाद के प्रसंग में ही नामवर सिंह 'छायावाद' में लिखते हैं कि शुक्ल जी के अनुसार ''अज्ञात के प्रति जिज्ञासा' ही सच्ची रहस्य-भावना है। परन्तु उन्होंने देखा कि छायावादी कवि उस जिज्ञासा को आध्यात्मिकता का रूप दे रहे हैं,

इसलिए छायावादी रहस्य-भाव को उन्होंने साम्प्रदायिक अथवा आध्यात्मिक रहस्यवाद समझ लिया।''[35] रहस्यवाद को लेकर शुक्ल जी की जो आलोचना हो रही थी, उस आलोचना को लेकर शुक्ल जी ने 'काव्य में रहस्यवाद' नाम से एक निबंध लिखकर अपनी 'रहस्यवाद' संबंधी मान्यताओं को स्पष्ट किया है। निबंध के शुरू में ही उन्होंने स्पष्ट किया कि ''यह निबंध केवल इस उद्देश्य से लिखा गया कि 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' की कविता के संबंध में भ्रांतिवश या जानबूझ कर जो अनेक प्रकार की बे-सिर-पैर की बातों का प्रचार किया जाता है, वह बंद हो। कोई कहता है- 'यही वर्तमान युग की कविता है', कोई कहता है- 'इसमें आजकल की आकांक्षाएँ भरी रहती हैं' और कोई कहता है कि 'बस, यही कविता का रूप है।' किसी सभ्य जाति के साहित्यक्षेत्र में ऐसे प्रवादों का फैलना शोभा नहीं देता।' इसी में वे आगे कहते हैं कि ''मैं 'रहस्यवाद' का विरोधी नहीं। मैं इसे भी कविता की एक शाखा-विशेष मानता हूँ। पर जो इसे काव्य का सामान्य स्वरूप समझते हैं उनके अज्ञान का निवारण मैं बहुत आवश्यक समझता हूँ।''[36] शुक्ल जी के रहस्यवाद संबंधी आलोचना के केन्द्र में भाववादी दर्शन का खण्डन रहा है। शुक्ल जी कविता में भाव की अपेक्षा वस्तु की प्रधानता को महत्व देते हैं। इसलिए छायावाद की काल्पनिक अनुभूति की जगह जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति या वास्तविक अनुभूति को मूल्यवान समझते हैं। इसलिए काव्य में आदर्श की स्थिति को सामान्य जीवनभूमि पर रखने की बात करते हैं। शुक्ल जी आदर्श की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं ''जितने आदर्श होते हैं सब सामान्य भूमि से ऊपर उठे हुए होते है। पर यह कहना कि उपर्युक्त आदर्श के भीतर ही सौन्दर्य और मंगल की अभिव्यक्ति होती है, काव्य की उच्चता केवल वहीं मिलती है, मंगल, सौन्दर्य तथा काव्य की उच्चता के क्षेत्र को बहुत संकुचित करना है।''[37] रहस्यवाद संबंधी आलोचना के अलावे शुक्ल जी पर अभिव्यंजना शैली और स्वाधीनता आंदोलन को लेकर कुछ आरोप लगे। नंददुलारे वाजपेयी अभिव्यक्तिवाद को लेकर कहते हैं कि ''अभिव्यक्तिवाद को शुक्ल जी ने दार्शनिक सिद्धांत के रूप में उपस्थित किया ही है, इसे ही उन्होंने काव्य के रूप का विधायक और उसके उत्कर्ष की माप भी मान लिया है। फलतः काव्य अपनी मौलिक सत्ता खोकर एक दार्शनिकतावाद के घेरे में घिर गया है।''[38] शुक्ल जी की आलोचना को लेकर शिवदान सिंह चौहान 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' में कहते हैं ''शुक्ल जी के आलोचनात्मक दृष्टिकोण में उनकी वैयक्तिक रूचि के कारण और भी अनेक त्रुटियाँ हैं। प्रकृति-वर्णन के समर्थक होते हुए भी उन्होंने प्रकृति के स्थायी मूल्यों और वर्णन-प्रकारों का विवेचन करके एक विशेष ढंग के प्रकृति-वर्णन को ही श्रेष्ठ बताया है। नई काव्य-शैलियों का भी वे समर्थन न कर सके। अर्थात् छायावाद को राष्ट्रीय जागरण द्वारा प्रेषित समत्व की भावना और नए पूँजीवादी संबंधों के प्रति व्यक्ति के असंतोष और प्रतिवाद की व्यंजना के रूप में वे न देख सके।''[39]

कविता को 'आनंद' के रूप में देखे जाने का विरोध कर उसके 'लोकमंगल' पक्ष को महत्व देते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में शुक्ल जी का महत्व इस अर्थ में है कि इन्होंने विशाल हिन्दी प्रदेश की जनता में गौरव और उत्साह का संचार किया। अपने इतिहास के माध्यम से इन्होंने जातीय आधार का निर्माण किया। जिस आधार पर खड़े होकर इस क्षेत्र की जनता ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद से मुकाबला किया।

सन्दर्भ

1 चौहान, शिवदान सिंह, साहित्य की समस्याएँ, पृ0- 132, द्वितीय संस्करण- 2002, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली

2 चौहान, शिवदान सिंह, हिन्दी साहित्य के 80 वर्ष, पृ0-171, संस्करण-2007, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली

3 मिश्र, शिवकुमार, हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ0-11, संस्करण-2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

4 शर्मा, रामविलास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ0-27, दूसरी आवृत्ति-2003, राजकमल, प्रकाशन, नई दिल्ली

5 पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और साहित्य दृष्टि, पृ0-92, आवृत्ति, संस्करण 2009, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

6 हिन्दी साहित्य के 80 वर्ष, पृ0- 173

7 चौहान, शिवदान सिंह, परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, पृ0- 290, आवृत्ति-2012, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

8 मिश्र, शिवकुमार, पृ0- 13

9 शर्मा, रामविलास, आचार्य रामचन्द्र-पृ0- 32

10 सिंह, नामवर, दूसरी परम्परा की खोज, पृ0- 73, चौथी आवृत्ति- 2003, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

11 शुक्ल, नारायण, जनवादी समक्ष और साहित्य, पृ0- 106, संस्करण- 1985, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

12 सिंह, नामवर, दूसरी परम्परा की खोज, पृ0- 93

13 शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0- 119, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

14 चिंतामणि-भाग-प्प् पृ0-3, पंचम संस्करण, संवत् 2066

15 वही, पृ0-4

16 पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ0- 104

17 वही, पृ0- 120

18 शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0- 34, संवत्-2059, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

19 वही, पृ0- 34

20 वही, पृ0- 35

21 द्विवेदी, हजारी प्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0- 25, संस्करण 2006, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

22 वही, पृ0- 25

23 सिंह, नामवर, दूसरी परम्परा की खोज, पृ0-71

24 शुक्ल रामचन्द्र, चिंतामणि-भाग-प्प्, पृ0- 258

25 शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0- 35

26 शर्मा, रामविलास, लोक जागरण और हिन्दी साहित्य, पृ0- 22

27 शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0- 353

28 शर्मा, रामविलास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ0- 152

29 शुक्ल रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0- 353

30 वही, पृ0- 354

31 वही, पृ0- 355

32 शर्मा, रामविलास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0- 163

33 सिंह नामवर, छायावाद, पृ0-14, छठी आवृत्ति- 2014, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

34 शुक्ल, रामचन्द्र, चिंतामणि भाग-प्प्, पृ0-37

35 वाजपेयी, नन्ददुलारे, हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ0- 62, संस्करण- 2010, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद

36 चौहान, शिवदान सिंह, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृ0- 174

Corresponding Author

Dr. Asha Tiwari Ojha*

Associate Professor, Department of Hindi, Sunderwati Mahila College, Tilka Manjhi Bhagalpur University, Bihar